विषय	हिन्दी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	P1 : हिन्दी साहित्य का इतिहास
इकाई सं. एवं शीर्षक	M1 : हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि
इकाई टैग	HND_P1_M1
प्रधान निरीक्षक	प्रो. रामबक्ष जाट
प्रश्नपत्र-संयोजक	डॉ. स्मिता चतुर्वेदी
इकाई-लेखक	डॉ. अर्चना वर्मा
इकाई-समीक्षक	प्रो. हरिमोहन शर्मा
भाषा-सम्पादक	प्रो. देवशंकर नवीन

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. मध्यदेश : हिन्दीभाषी भूभाग
4. श्रमण-परम्परा तथा ब्रह्म-चिन्तन-परम्परा
5. संस्कृत साहित्य
6. मध्य देश की भाषा का विकास और रूपान्तर
7. अपभ्रंश : पुरानी हिन्दी
8. अपभ्रंश और आभीर-जन
9. अपभ्रंश का साहित्य
10. जैन ग्रन्थ
11. इतर स्रोतों से प्राप्त अपभ्रंश रचनाएँ
12. अपभ्रंश काव्य के रूपबन्ध
13. निष्कर्ष

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

- हिन्दी भाषा के वर्तमान स्वरूप ग्रहण के बारे में जान पाएँगे।
- हिन्दी भाषा की विकास यात्रा में अन्य भाषाओं का योगदान समझ पाएँगे।
- हिन्दी साहित्य की निर्मिति में हिन्दी से पूर्व के साहित्य की भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

2. प्रस्तावना

हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण की शुरुआत के लगभग साथ-साथ 'भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम सीमान्त से विजयदृप्त इस्लाम का प्रवेश हुआ।' लगभग यही वह समय भी है, जब हिन्दी साहित्य जगत में भाषा, विचार, दर्शन आदि क्षेत्रों में एक हलचल और परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। 'साहित्य' शास्त्र और पाण्डित्य से थककर लोक की ओर उन्मुख हुआ। महत् परम्पराएँ लोकग्राह्य होने के उपक्रम में छनकर लोकभाषा में समा रही थीं और इस क्रम में कहीं छूट रही थीं तो कहीं अपना रूप बदल रही थीं। लघु परम्पराएँ साहित्य रचना के माध्यम से प्रतिष्ठित और स्थापित हो रही थीं। बौद्ध, जैन और ब्राह्म विचार और दर्शन, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से छन कर यहाँ पुरानी हिन्दी में अभिव्यक्त हो रहे थे और देशकाल के सन्दर्भ में विकसित और रूपान्तरित भी।

महत्परम्परा का सम्बन्ध समाज के सुशिक्षित, मननशील, चिन्तनपरायण, विशिष्ट जन के साथ होता है, अर्थात उस वर्ग के साथ, जो सांस्कृतिक ज्ञानराशि के विश्लेषण, व्याख्या, चिन्तन और सर्जन में समर्थ होते हैं। महत्परम्परा की कोटि में वह विपुल ज्ञानराशि रखी जाती है जो किसी समाज में मार्गदर्शन देने वाले दीपक की भूमिका निभाती है। लघु परम्परा भी महत्परम्परा से ही जुड़ी होती है और उसे लोकविश्वासों, संस्थाओं, लोककथाओं, कहावतों, पहेलियों, किस्सों, मिथकों आदि रूपों में अभिव्यक्त करके लोकसाहित्य की राशि का सर्जन करती है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य को आदिकाल से ही एक प्रौढ़ और पुष्ट लोक-साहित्य की तरह देखा जा सकता है, जो शिष्ट साहित्य की प्रतिष्ठा पाने के रास्ते पर है।

जिस कालखण्ड को हिन्दी साहित्य का आदिकाल या आरम्भ कहा जाता है, वह देश के इतिहास में मध्यकाल के बीचोबीच का समय है। इसके पीछे चिन्तन और सर्जन की हजार वर्ष की ऐतिहासिक पीठिका मौजूद है, लेकिन फिर भी हिन्दी साहित्य का यह "आदिकाल" है, क्योंकि जिसे हम आज हिन्दी भाषा के नाम से जानते हैं, वह उसके आरम्भिक स्वरूप की, तत्कालीन लोकभाषा की साहित्यिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा का आदिकाल है।

3. मध्यदेश : हिन्दीभाषी भूभाग

आज के भारत में राजस्थान, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार हिन्दीभाषी राज्य हैं। यह एक विशाल भूभाग है। राजस्थान और पंजाब की पश्चिमी सीमा से लेकर उत्तर-प्रदेश के उत्तरी सीमान्त, मध्य प्रदेश और बिहार के पूर्वी सीमान्त तक फैले हुए तथा प्राचीनकाल से 'मध्यदेश' के नाम से प्रसिद्ध इस समूचे प्रदेश की साहित्यिक भाषा को हिन्दी कहा जाता रहा है। *हिन्दी साहित्य की भूमिका* में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्यदेश के सांस्कृतिक स्वभाव की चर्चा करते हुए बताया है कि वह चौमुखी संस्कृतियों और विभिन्न प्रकृतियों से घिरा हुआ भी रक्षणशील और पवित्रताभिमानी होता है। विभिन्न संस्कृतियों की रगड़ से उसमें वैचारिक गतिशीलता और दूसरे धर्मों, मतों, सम्प्रदायों, संस्कृतियों के लिए

सहनशीलता दिखाई देती है, किन्तु आचार-व्यवहार में रक्षणशीलता बनी रहती है। इसी मध्यदेश के मध्यकाल में हिन्दी साहित्य का आदिकाल – संवत् 1050 से 1375 तक की सवा तीन सौ वर्षों की अवधि-घटित हुआ। इस घटना का विशेष पक्ष इस्लाम का भारत-आगमन है।

इन दोनों घटनाओं की समकालीनता का यह परिणाम स्वाभाविक ही था कि हिन्दी साहित्य के प्रकट परिवर्तनों को इस्लाम के आगमन का प्रभाव, परिणाम या प्रतिक्रिया मानकर व्याख्यायित किया जाए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने परिस्थितियों पर ध्यान दिया और हिन्दी साहित्य के आगामी विकास को इस्लाम के आगमन की सन्दर्भ-सापेक्षता में देखा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने देखा कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य तक का हर अंग भाषान्तरों से गुजरता हुआ परम्परा में पहले से मौजूद रहा है। उन्होंने परम्परा को रेखांकित किया; टूटी हुई कड़ियों को जोड़ा, खाली जगहों को शोधसम्मत तथ्यों से भरा, उसमें आते हुए मोड़ में निहित सूत्रों के सुलझाव-उलझाव की व्याख्या की, इस्लाम के प्रभाव, परिणाम और प्रतिक्रिया वाले तर्कों का उत्तर दिया, उसे भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास' की तरह देखा और घोषित किया कि इस्लाम अगर न भी आया होता तो हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा वह आज है।

हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के अध्ययन के दो पक्ष हो सकते हैं। एक तो उसकी तात्कालिक पृष्ठभूमि, जिसके अन्तर्गत उन समसामयिक प्रभावों और दबावों का विवेचन किया जाता है, जिनके भीतर रहते हुए साहित्य की रचना होती है। दूसरे, पीछे से चली आती वे पूर्व-परम्पराएँ, जिन्होंने जातीय मानसिकता का निर्माण किया। जातीय मानसिकता साहित्य को रचती है और उसमें अभिव्यक्त भी होती है। वह स्वयं रचना सामग्री भी है और उसकी उत्पादक भी। तात्कालिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में जातीय मानसिकता की अभिव्यक्ति का सार-तत्त्व मात्र तात्कालिक नहीं होता। इस सन्दर्भ में पृष्ठभूमि के अध्ययन का अर्थ इस्लाम के भारत-प्रवेश के पहले से चली आती परम्परा के उन घटकों का अध्ययन है, जो 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' कहे जा सकते हैं।

4. श्रमण-परम्परा तथा ब्रह्म-चिन्तन-परम्परा

प्राचीन बौद्ध तथा जैन धर्मग्रन्थों से श्रमण परम्पराओं तथा सम्प्रदायों का आगमन हुआ। उसके अन्तर्गत विरक्तिप्रधान बौद्ध और जैन परम्पराएँ और उनका करुणापुष्ट धर्म आता है। वे मूलतः निरीश्वरवादी परम्पराएँ रही हैं और वैदिक कर्मकाण्ड और बलि-परम्परा के विरुद्ध विचारधाराएँ हैं। ब्राह्मण परम्परा का आगमन वेद, उपनिषद और स्मृतियों से हुआ है। ब्राह्मण-धर्म ब्रह्म को मोक्ष का आधार और वेद वाक्य को ब्रह्म-वाक्य मानता है। ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म और ब्रह्माण्ड को जान कर ही ब्रह्मलीन होने का मार्ग खुलता है। श्रमण-परम्परा के प्रबल होने पर ब्राह्मण धर्म दब गया था। सातवीं-आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के अद्वैत मत की स्थापना के साथ ब्राह्मण-धर्म का पुनरुज्जीवन हुआ। हिन्दी साहित्य का इतिहास इन दोनों जीवनदृष्टियों के उलझने- सुलझने-समन्वित होते रहने का इतिहास है।

ईसा की सातवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म प्रबल रूप से स्थापित था। लोक-सम्पर्क से वह दो सम्प्रदायों में बँट गया था - हीनयान और महायान। हीनयान संन्यासी और विरक्त भिक्षुओं का सम्प्रदाय बना रहा और महायान जन-साधारण के साथ गहन रूप से सम्पृक्त होकर अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में फैलता चला गया। अन्त की तरफ़ उसमें सहजयान और वज्रयान का उद्भव हुआ। महायान ने अपनी सापेक्षता में हीनयान विशेषण का यूँ प्रचार किया कि वह संज्ञा बन गया और स्वयं हीनयान ने भी उसे अपने नाम की तरह अपना लिया।

आचार-विचार की सहजता और किसी भी किस्म की कट्टरता का अभाव महायान शाखा की व्यापक सत्ता में सहायक हुआ। मौर्य सम्राट अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार ई.पू. वर्षों में ही आरम्भ हो चुका था। ईसवी सन् के आरम्भ में वह सुदूरपूर्व और मध्य एशिया से जुड़ चुका था और नई बातों के आगमन से उसके पुराने रूप में परिवर्तन होने लगा था। बौद्ध साधना के साथ शैव और शाक्त उपासनाओं के योग से सहजयान और वज्रयान तन्त्रसाधना के रूप में विकसित होने लगे थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संकेत किया है कि तान्त्रिकों का 'आगम' शब्द बाहर से आए हुए 'आचार' का अर्थ देता है।

परवर्ती शास्त्र-निरपेक्ष सन्त-साहित्य पर नामजप और बौद्ध तत्त्ववाद के निशान दिखाई देते हैं। अवतारवाद की शास्त्र-सापेक्ष भावधारा के भक्तों पर भी महायान का प्रभाव पड़ा। परस्पर विरुद्ध विश्वासों और विचारों का ऐसा समन्वय भारतीय लोकधर्म की अपनी विशिष्टता है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में 'भारतीय गृहस्थ आज भी परस्पर विरोधी मतों को मानने वाले साधुओं की और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न प्रकृति के देवताओं की पूजा करता है।' विभिन्न प्रभावों, दबावों और समन्वयों में पड़कर बदलते हुए बौद्ध-धर्म का चिह्न उस समय के अपभ्रंश/पुरानी हिन्दी के साहित्य में प्राप्त होता है। उस समय का मतलब वही समय, जब शास्त्र का लोक में रूपान्तर हो रहा था और शास्त्र के ऊपर लोक की प्रतिष्ठा हुई।

मध्यदेश के सांस्कृतिक स्वभाव के अनुकूल आचार-व्यवहार की रक्षणशीलता के चलते बौद्ध मठों के उठ जाने के बाद भी पूजा-साधना की विधियाँ शेष रहीं, लेकिन उनमें 'पाण्डित्य और कृच्छ्रसाध्यता व कष्टपूर्ण साधना का कोई लेश नहीं रहा।' महायान अपने आचार-व्यवहार की सहजता में लोकमत की प्रधानता से शुरू और उसी में घुलकर लुप्त हो गया। यह उसकी स्वाभाविक परिणति थी।

जिन दिनों महायान लोकधर्म रूप लेता हुआ साधारण जनजीवन में अपनी पैठ बना रहा था, उन दिनों ब्राह्मण धर्म लोक-साधारण से उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। छठी-सातवीं शताब्दी तक हालत यह हो चुकी थी कि संस्कृत के विशाल भण्डार में से वेदोपनिषद् आदि एकाध ग्रन्थ ही आत्मोपलब्ध ज्ञान और प्रत्यक्ष जीवन के बिचौलिये रह गए थे। सातवीं-आठवीं शताब्दी में पुनरुज्जीवित ब्राह्मण-धर्म शंकराचार्य की स्थापनाओं और व्याख्याओं द्वारा अपना पिछला रूप बहुत कुछ बदल चुका था। बौद्ध-धर्म की 'शून्य' की संकल्पना उसमें शामिल हो चुकी थी। इस समन्वय के परिणामस्वरूप शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा गया था।

महायान के प्रभाव से धर्मसम्मत लोकव्यवहार में जो बातें शामिल हुईं, उनमें प्रमुख बात सर्वभूत-हितवाद, जीवोद्धार में विश्वास और उसके लिए कष्ट भोगने की प्रवृत्ति थी। यह मान्यता भी प्रबल हुई कि मनुष्य अपने सत्कर्म और भक्ति से बोधिसत्व (लोकविश्वास में 'मुक्त') हो सकता है; बुद्धगण (लोकविश्वास में ईश्वर) काल और देश की सीमा में परिव्याप्त भी हैं और लोकोत्तर भी; भौतिक जगत नश्वर तथा सारशून्य है। कर्मकाण्ड की बहुलता और तन्त्र-मन्त्र में विश्वास उत्पन्न हुआ। बौद्ध-धर्म के मूल उपदेश पालि में थे, लेकिन इस समय तक पालि की बजाय संस्कृत ग्रन्थ अधिक विश्वसनीय हो उठे थे। बुद्ध (लोकव्यवहार में ईश्वर) में विश्वास अटूट था और नामजप से निर्वाण का आश्वासन था।

महायान सहज मानवीय, लोकगम्य और समन्वयमूलक था। उसकी ये विशेषताएँ हिन्दू धर्म को उसकी देन भी हो सकती हैं और हिन्दू धर्म के साथ समन्वय के परिणामस्वरूप बौद्ध-श्रमण-परम्परा में नया आयाम भी। निश्चित बात यही है कि समन्वय हो रहा था।

5. संस्कृत साहित्य

साहित्य और चिन्तन पर महायान का प्रभाव वैचारिक ही था। आलोच्य प्रदेश और काल में सामाजिक जीवन में आचार-व्यवहार का मेरुदण्ड स्मार्त्त (स्मृति-सम्मत धर्म) विचार ही बने रहे। कहने को संस्कृत ईस्वी सन् के बाद भी संस्कृत चिन्तन और सर्जन का माध्यम तो बनी रही और सत्रहवीं-अठारहवीं सदी तक उसमें लेखन भी चलता ही रहा, लेकिन अब लोकजीवन की भाषा वह नहीं थी और उसका साहित्य भी पण्डितों के बीच का कार्यकलाप बन गया था। संस्कृत की रचना परम्परा के मूल रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थों में लोकजीवन के साथ सम्पृक्ति का जो गहन भाव था, वह जाता रहा था। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में अब 'इस साहित्य में लोक जीवन से हटे हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है।'

आलोच्यकाल की उल्लेखनीय संस्कृत रचनाओं में सातवीं शताब्दी में हर्ष की रचना के रूप में प्रसिद्ध नाटक नागानन्द लिखा गया, जिसके नान्दीपाठ में बुद्ध की वन्दना है। अवधूत-गीता का वर्तमान रूप पण्डितों के अनुसार नवीं-दसवीं सदी का है। ग्यारहवीं सदी के महत्त्वपूर्ण संस्कृत लेखन में जयदेव कृत *गीतगोविन्द*, सोमदेव कृत *कथासरित्सागर* और क्षेमेन्द्र कृत *बृहत्कथामंजरी* का नाम है, जो ई.पू. पाँचवीं सदी की पैशाची भाषा की *बृहत्कथा* का संस्कृत में काव्यात्मक रूपान्तरण है। श्रीहर्ष का महाकाव्य *नैषधचरित* बारहवीं सदी की रचना है।

संस्कृत में मौलिक रचना की बजाय टीका-लेखन की प्रवृत्ति शुरू हुई। अपने ज्ञान को आर्ष-ज्ञान अथवा परम्परा-सिद्ध ज्ञान से घटकर मानने की प्रवृत्ति के कारण कई बार मौलिक चिन्तन को भी टीका के माध्यम से ही प्रस्तुत किया गया। दसवीं शताब्दी के महान दार्शनिक और आचार्य अभिनवगुप्त ने अपना समस्त मौलिक चिन्तन टीकाओं के माध्यम से ही प्रस्तुत किया है। उन्हें मौलिक ग्रन्थ की तरह भी प्रस्तुत किया जा सकता था, लेकिन किसी प्राचीन ग्रन्थ से जोड़कर अपनी बात रखने के पीछे यह मनोवृत्ति सक्रिय जान पड़ती है कि इस तरह अपनी बात को आर्ष और श्रुतिसम्मत सिद्ध किया जा सके। इसी मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का *ब्रह्मसूत्र*, *उपनिषद* और *गीता* का सहारा लेकर ही हर वैष्णव आचार्य ने अपनी बात कही कि इसके बिना उनका मतवाद न तो प्रामाणिक माना जाएगा, न टिक ही सकेगा। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते प्रस्थानत्रयी के अलावा भी सभी आचार्यों के ग्रन्थों को टीका का योग्य सुपात्र मान लिया गया। टीकाओं का जोर ऐसा हुआ कि मूल ग्रन्थ की टीका हुई, फिर उस टीका की भी टीका हुई। टीका-दर-टीका की कड़ियाँ छह-छह आठ-आठ तक की गिनती तक चलती रहीं। इस तरह चिन्तन में एक परतन्त्रता और मौलिकता के अभाव का जन्म हुआ।

ग्यारहवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य में एक और शुरुआत हुई। निबन्ध-साहित्य रचा जाने लगा। आप्टे के संस्कृत हिन्दी शब्दकोश में निबन्ध का एक अर्थ संग्रह-ग्रन्थ है। यहाँ वही अभिप्रेत है। *हिन्दी साहित्य की भूमिका* के अनुसार निबन्ध-साहित्य में लोकजीवन से सम्बद्ध छोटी मोटी सैकड़ों बातों का विचार, विश्लेषण और व्यवस्थापन किया गया है। उसका सम्बन्ध तरह तरह के अनुष्ठानों तथा दैनिक जीवन में व्यवहार्य विधि-विधानों के साथ है। 'आधुनिक युग के पाठक को जो बातें नितान्त निरर्थक और निष्प्रयोजन जान पड़ सकती हैं, उनके लिए इन ग्रन्थों के पन्ने के पन्ने रंगे हैं।' इनका संस्कृत में

लिखित होना भी शायद उनके परम्परासम्मत, प्रामाणिक और शास्त्रोक्त समझे जाने को उद्दिष्ट और कारणरूप रहा होगा, क्योंकि संस्कृत इस दौरान रचना की माध्यम-भाषा लगभग नहीं रह गई थी।

इस प्रवृत्ति के मूल में भी शास्त्र का लोकोन्मुखी रुझान समझा जा सकता है, जिसे आचार्य द्विवेदी ने इस कालखण्ड की प्रकृति की तरह रेखांकित किया है। स्मार्त्त धर्म की इस प्रवृत्ति का मूल कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति में मौजूद था। शक, आभीर, कुषाण आदि अनेकानेक सैकड़ों जन-समुदाय पता नहीं कब-कब भारतीय समाज का अंग बनते और वर्ण-व्यवस्था में अपनी जगह पाकर ब्राह्मण-धर्म के अन्दर शामिल होते चले गए। वे अपने साथ तरह तरह के व्रत-पूजा-पार्वण आदि विधान और अपने अपने आराध्य भी लाए थे, जिनकी प्राचीन ग्रन्थों में कोई व्यवस्था नहीं थी। इन समुदायों और उनकी आचार-परम्पराओं को इस टीका साहित्य और ऋषियों के नाम पर लिखित नए-नए स्मृति-ग्रन्थों और पुराण-ग्रन्थों में दर्ज किया गया। कुल मिलाकर यह इतना जटिल जंजाल बन पड़ा होगा कि इसको नियमित और व्यवस्थित किया जाना ज़रूरी था। निबन्ध-ग्रन्थ उसी का उपक्रम हैं। इसके द्वारा स्मार्त्त-पण्डित भी बौद्ध पण्डितों के समान लोकधर्म की ओर झुकते हुए दिखाई देते हैं। प्रकारान्तर से इन ग्रन्थों को लोकधर्म का शास्त्र कहा जा सकता है।

6. मध्य देश की भाषा का विकास और रूपान्तर

आज की स्वीकृत, स्थापित साहित्यिक हिन्दी का दर्जा खड़ी बोली के परिनिष्ठित रूप को मिला हुआ है, लेकिन अतीत में अलग अलग समय पर अलग अलग बोली के पास केन्द्रीय भाषा की जगह रही है। वस्तुतः केन्द्रीय भाषा के अलावा भी इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित रहती आई हैं। उनमें से अनेक– विशेषतः ब्रज और अवधी और अगर साहित्य की वाचिक परम्परा को भी जोड़ लिया जाए, तो कौरवी, बुन्देली, बघेली, भोजपुरी, राजस्थानी आदि- सभी के पास समृद्ध साहित्यिक भाषा की अपनी हैसियत मौजूद रही है।

इस प्रदेश में बोली जाने वाली सभी बोलियों का सम्मिलित सामूहिक नाम हिन्दी है, लेकिन साहित्यिक व्यवहार के लिए कोई एक भाषा केन्द्रीय स्थान पा लेती रही है। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य बोलियों में क्षमता की दृष्टि से कोई कमी है। केन्द्रीय साहित्यिक भाषा के रूप में किसी बोली का स्वीकृत होना राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि अनेक कारणों से घटित होता है। इससे अनेकता और विविधता के बीच एकसूत्रता और सम्प्रेषणीयता सम्भव होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में खड़ी बोली के अलावा ब्रज, अवधी और अन्य बोलियों का साहित्य भी यथोचित रूप से सम्मिलित है। हिन्दी शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता आया है। भाषा के नाम के अलावा जाति, प्रदेश और संस्कृति के विशेषण की तरह भी इसका प्रयोग होता है।

7. अपभ्रंश : पुरानी हिन्दी

कुछ मतभेदों के सिवाय संवत् 1050 कमोबेश सर्वमान्य रूप से हिन्दी साहित्य के आरम्भ की तरह स्वीकृत है। देश के इतिहास में सातवीं शताब्दी मध्यकाल का आरम्भ है, लेकिन हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसे पृष्ठभूमि का दर्जा ही दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के अध्ययन के लिए सन् 700-1000 तक का कालखण्ड विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस तकरीबन तीन सौ वर्षों में पुरानी हिन्दी अथवा 'अपभ्रंश' ने विविध साहित्यरूपों और पद्धतियों में

विकसित और परिनिष्ठित होकर साहित्यभाषा का स्थान पाया और आधुनिक आर्यभाषाओं में प्राकृतों के रूपान्तर की कड़ी बनी।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में प्राचीन अलंकारग्रन्थों में दो प्रकार के परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु (सन् 1069) अपभ्रंश को प्राकृत कहते हैं तो दूसरी ओर भामह (छठी शती), दण्डी (सातवीं शती) आदि आचार्य अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत से भिन्न स्वतन्त्र काव्यभाषा के रूप में करते हैं। अपभ्रंश के शब्दकोश का अधिकांश, यहाँ तक कि नब्बे प्रतिशत, प्राकृत से गृहीत है और व्याकरणिक गठन प्राकृत रूपों से अधिक विकसित तथा आधुनिक भाषाओं के निकट है। अपभ्रंश का प्रमुख व्यावर्तक लक्षण संस्कृत और प्राकृत के संज्ञारूपों से विभक्ति-प्रत्यय का अलग होना है।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन आर्यभाषाएँ थीं। विशुद्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अपभ्रंश को इनमें से अन्तिम माना गया है। इसी अपभ्रंश से आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ। पालि के नामकरण की व्युत्पत्ति 'पल्ली' से हुई जिसका अर्थ है ग्राम। उसे शिष्ट और नागर भाषा के विलोम-भार पर ग्राम्य जन-समाज की भाषा समझा जा सकता है। 'प्राकृत' की व्युत्पत्ति में प्रकृति निहित है, जिसे संस्कृत के विलोम-भार पर पुनः जनसामान्य की सहज प्राकृतिक भाषा माना जा सकता है। प्राकृतों की संख्या अनेक है। अपभ्रंश का आगमन उसके बाद हुआ, लेकिन पालि और प्राकृत के विपरीत अपभ्रंश एक ऐसा नामकरण है, जिसमें स्वयं उसके अपने नाम की कम तथा किसी अन्य का भ्रष्ट या विकृत स्वरूप होने की ध्वनि या अनुगूँज अधिक सुनाई पड़ती है। अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा को केवल 'भासा', 'देसी भासा' अथवा 'गामेल्ल भासा'; (ग्रामीण भाषा) कहा है' परन्तु संस्कृत के व्याकरणों और अलंकारग्रन्थों में उस भाषा के लिए प्रायः 'अपभ्रंश' तथा कहीं-कहीं 'अपभ्रष्ट' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश नाम संस्कृत के आचार्यों का दिया हुआ है, जो आपाततः तिरस्कारसूचक प्रतीत होता है, लेकिन अन्ततः संज्ञा में बदल कर केवल नामवाची रह गया और अनेक कवियों ने स्वयं भी अपनी भाषा को 'अवहत्थ' या 'अवहट्ठ' कहा।

यह मानना सही नहीं होगा कि अपभ्रंश का जन्म भी इन्हीं तीन सौ वर्षों में हुआ था। उत्तरकालीन होने के बावजूद अपभ्रंश में ऐसे अनेक प्रयोग पाए जाते हैं जो वररुचि (ई.पू. 300) द्वारा प्राकृत-प्रकाश में वर्णित साहित्यिक प्राकृत की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। अपभ्रंश के रूप और प्रयोग बहुत पहले से, सन् के प्रथम शतक से निश्चित, नियमित प्रचलन में आ चुके थे। एक प्रतिष्ठित, परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के साथ साथ लोकभाषा और लोकसाहित्य के सह-अस्तित्व की बात जानी पहचानी है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी लम्बे समय तक ऐसा सह-अस्तित्व बना रहा। भाषा के विकासक्रम में ऐसा होता रहता है कि कालान्तर में केन्द्रीय और मानक भाषा बनने वाली परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा स्थिर और मानक रूप धारण करके लोकसामान्य की समझ, पकड़ और पहुँच से बाहर जाती रहती है। जीवन्त लोकभाषा का स्वरूप निरन्तर गतिशील और वर्धमान रहता है। केन्द्रीय साहित्यिक भाषा बार बार अपनी लोकभाषा की जड़ों तक लौटकर खुद को वर्धनशील और गतिमान बनाए रखती है। ऐसा भी होता है कि राजनीतिक आर्थिक आदि कारणों से केन्द्रीय भाषा के आसन पर कोई और बोली पदासीन हो जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि हिन्दी-प्रदेश जैसे विशाल भूभागों में अलग अलग इलाकों में अलग अलग बोलियों को केन्द्रीय साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त हो।

प्राकृतों की संख्या चार बताई गई है - महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और मागधी। प्राकृत के प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि ने इन्हीं चार प्राकृतों के नाम गिनाए हैं। उन्होंने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' के बारह अध्यायों में से नौ अध्याय तथा कुल 424 सूत्र महाराष्ट्री को अर्पित किए हैं। शेष प्रत्येक भाषा के लिए एक के हिसाब से तीन अध्याय और तीन भाषाएँ। पैशाची के लिए 14 सूत्र, मागधी के लिए 17 सूत्र, शौरसेनी के लिए बत्तीस सूत्र दिए गए हैं। प्रकट है कि मूल प्राकृत महाराष्ट्री को मानते हुए विवेचन किया गया है और शेष तीनों के विशिष्ट व्यावर्तक लक्षण ही गिनाए गए हैं। महाराष्ट्री एक तरह से लोकसामान्य मानक साहित्यिक भाषा रही प्रतीत होती है। महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों को हिन्दी प्रदेश की भाषाओं का पूर्ववर्ती रूप कहा जा सकता है। वह शायद एक ही भाषा की दो शैलियों के नाम हैं, क्योंकि संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों को प्राकृत बोलते हुए दिखाया गया है और वे शौरसेनी में गद्य बोलती हैं और महाराष्ट्री में पद्य बोलती हैं। शौरसेनी निश्चित रूप से पश्चिमी हिन्दी है और मागधी मगध यानी बिहार और बंगाल की भाषाओं का पूर्व-रूप है। बिहार की अनेक भाषाएँ हिन्दी के बोली-परिवार से ही सम्बद्ध हैं। पैशाची के बारे में अधिकांशतः अटकलें ही प्राप्त हैं, अनुमान नहीं किया जा सका है कि वह वस्तुतः किस प्रदेश की भाषा थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि वह सम्भवतः आर्येतर जातियों द्वारा बोली जाने वाली आर्यभाषा रही होगी जो उच्चारण में उनके नाद-अभ्यास के अनुकूल विकृत हो गई होगी। महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी हिन्दी प्रदेश की भाषाओं की पूर्ववर्ती प्राकृतों का नाम था। और वे अपभ्रंश के रास्ते हिन्दी में अपने रूपान्तर तक आई होंगी। अनेक विद्वान महाराष्ट्री को आधुनिक मराठी का पूर्वरूप मानते हैं, लेकिन आचार्य द्विवेदी के अनुसार दोनों में नामसाम्य के अतिरिक्त विशेष कुछ समान नहीं है।

8. अपभ्रंश और आभीरजन

अपभ्रंश को आरम्भ में ही आभीरजन की भाषा की तरह उल्लिखित किया गया था। पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में आभीरजन का आविर्भाव हुआ था, जो बाहर से आए हुए लोग थे। उनके सम्पर्क से भाषा के सामान्यतः प्रचलित प्राकृत रूपों में स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण-भेद और व्याकरण-वैविध्य उत्पन्न हुए होंगे, जिनके कारण प्राकृतों के इन नए रूपों को अपभ्रंश कहा गया होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सन्दर्भ में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (ई.पू. 200 से सन् 200 के बीच कभी रचित) का उल्लेख किया है। आचार्य भरत मुनि ने सिन्धु, सौवीर तथा हिमालय के कुछ प्रदेशों में प्रचलित उकारबहुल आभीरी भाषा का जिक्र किया है, यद्यपि उन्होंने अपभ्रंश का नाम नहीं लिया है।

संस्कृत शब्द आभीर का प्राकृत भाषा में अहीर हो जाता है। वे यदुवंशी, नन्दवंशी, ग्वालवंशी या गोपालों के साथ अभिन्न माने गए हैं। उनका उद्गम रहस्य में लिपटा और विवाद में डूबा हुआ है। उनका व्यवसाय पशुपालन और दस्युवृत्ति बताया गया है। कुछ लोग उन्हें एक आद्य द्राविड़ी कबीले से जोड़ते हैं, जिसने दक्षिण से उत्तर को प्रवास किया और अपने देवता और पूजा उपासना की विधियाँ अपने साथ लेकर आए। इस विषय में पुराणों का साक्ष्य दिया जाता है। कुछ उनको एक आक्रामक विजेता लहर का अंग मानते हैं – शायद शक – जिसका मूल उद्गम सिथिया अथवा मध्य एशिया में था। कुछ विद्वानों ने प्राचीन आभीरों को एक कबीला माना है, जबकि कुछ अन्यों ने एक नस्ल माना। पाणिनि, चाणक्य और पतंजलि जैसे प्रसिद्ध प्राचीन संस्कृत विद्वानों ने उनको हिन्दू धर्म के भागवत-सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है। वे एक नस्ल रहे हों या एक कबीला, स्वभाव से ही खानाबदोश रहे हों या विस्थापित या आक्रान्ता, लेकिन वे स्थायी रूप से यहीं बस गए और भारत भर में फैल गए। उनका महत्त्वपूर्ण उल्लेख महाभारत में है और यदुवंशी कृष्ण उनके महानायक हैं। ग्रीक

इतिहासकार प्टॉलेमी ने सन् 100 के अपने ग्रन्थ *द पेरिप्लस ऑफ़ द एरिथ्रियन सी* में भारत में आभीरों की उपस्थिति दर्ज की है। उनके काल और स्थान के बारे में निर्णायक रूप से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्य वही है।

आभीरों के हाथ में राजसत्ता आई, तो उनकी भाषा अपभ्रंश को भी केन्द्रीय भाषा की सत्ता और साहित्यिक भाषा का समादर प्राप्त हुआ होगा। सन् 600 में भामह और दण्डी के सिद्धान्त-ग्रन्थों में अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की पंक्तियाँ और छन्द उदाहरण के रूप में उद्धृत की गई हैं। अर्थात छठी शताब्दी में अपभ्रंश में ऐसा रचना-संचय हो चुका था जिसे भामह-दण्डी जैसे आलंकारिकों ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में उल्लेख के योग्य समझा था। नवीं शताब्दी में राजशेखर ने अपने *काव्यमीमांसा* नामक विशाल विश्वकोश में राज-दरबार में अपभ्रंश-कवि के स्थान की चर्चा की है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार नवीं शताब्दी में वह सौराष्ट्र से मगध तक फैल चुकी थी और आभीर मूल से मुक्त होकर लोकभाषा का पद ग्रहण कर चुकी थी, लेकिन सामान्य लोकभाषा का स्थान आभीरों द्वारा प्रोत्साहित काव्यभाषा के पास ही था। बहुत सम्भव है कि साहित्य की लोकोन्मुखता लोकभाषा को राज्याश्रय मिलने का ही परिणाम हो। इस प्रकार जो भाषा ईसवी सन् की आरम्भिक सदियों में आभीर आदि जातियों की लोकबोली थी, वह छठी शती से साहित्यिक भाषा बन गई और ग्यारहवीं शती तक जाते-जाते शिष्टवर्ग की भाषा तथा राजभाषा हो गई।

इस विस्तृत प्रचलन और समादर के बावजूद अपभ्रंश का साहित्य प्रचुरता से संरक्षित नहीं मिला। इसका कारण भी शायद लोकभाषा और वाचिक परम्परा का परिवर्तनशील प्रवाह रहा हो। जानी पहचानी बात है कि मध्यकाल तक लिखित रूप में सुरक्षित साहित्य वही रहा, जिसे या तो राज्य का आश्रय मिला या फिर किसी धार्मिक सम्प्रदाय का।

जैन गुरु हेमचन्द्राचार्य (1088-1178) ने अपने *सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन* नामक व्याकरण ग्रन्थ में संस्कृत और प्राकृतों के अलावा अपभ्रंश का व्याकरण भी सम्मिलित किया। भामह-दण्डी द्वारा उद्धृत होकर जो काव्यात्मक स्वीकृति और प्रतिष्ठा अपभ्रंश को मिली होगी, वह व्याकरण की रचना द्वारा सैद्धान्तिक और शास्त्रीय रूप से भी पुष्ट हुई होगी। ग्यारहवीं शताब्दी में आलंकारिक और वैयाकरण लक्ष्य कर चुके थे कि अपभ्रंश के रूपों में प्रयोग-वैविध्य और प्रकार-वैविध्य है, कोई एक निश्चित व्याकरण और एकरूपता नहीं है। स्थानभेद से वैविध्य की व्याख्या की जा सकती है, लेकिन हेमचन्द्राचार्य का व्याकरण एक ही अपभ्रंश की चर्चा करता है। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि व्याकरण में बँधने लायक भाषा एक सुस्थिर मानक रूप ले चुकी थी। यह वैविध्य इस बात के लिए अनुमान-प्रमाण का आधार देता है कि अनेक प्राकृत भाषाएँ इन रूपान्तरों से गुजरी होंगी और अनेक अपभ्रंशों का अस्तित्व रहा होगा। वे आधुनिक भारतीय भाषाओं का पूर्व रूप कही जा सकती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ग्रियर्सन की इस कल्पना का हवाला दिया है कि प्रत्येक आधुनिक आर्यभाषा की एक अपनी अपभ्रंश भाषा भी रही होगी। यह केवल अनुमान-प्रमाण से कही गई बात है, किन्तु तर्कसंगत एवं सम्भाव्य है। क्योंकि यह बात कुछ भरोसे लायक नहीं लगती कि अनेक प्राकृतों की केवल एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रंश रही होगी और उस एक अपभ्रंश से पुनः अनेक आधुनिक आर्यभाषाएँ विकसित हो गई होंगी। हेमचन्द्र के काव्योदाहरणों की भाषा में अनेक बोलियों का मिश्रण है। वह किसी एक देश या काल की भाषा नहीं है। वह एक केन्द्रीय साहित्यिक भाषा-सी प्रतीत होती है। दोहा उस समय का लोकप्रिय छंद बनता दिखाई देता है। लेकिन अपनी-अपनी जगहों की अपभ्रंशों में अपनी अपनी स्थानीय विशेषताएँ रही होंगी, इन्हीं अपभ्रंश बोलियों से साहित्यिक अपभ्रंश का रूप निश्चित हुआ होगा।

9. अपभ्रंश का साहित्य

अपभ्रंश के साहित्य को भाषाकाव्य कहने का चलन था। उसके विशाल लोकविस्तार को देखते हुए शायद यह उचित भी हो, लेकिन बहुत समय तक यह विस्तार अधिकांशतः उल्लेखों व अनुमान-प्रमाणों से ही सिद्ध रहा। उसका वस्तुतः प्राप्त साहित्य बहुत अधिक नहीं रहा और बहुत समय तक तो कालिदास की *विक्रमोर्वशीय* के कुछ प्रयोगों, अलंकारशास्त्र और व्याकरणग्रन्थों में प्राप्त कुछ उल्लेखों और उदाहरणों, *वैतालपंचविंशति* तथा *सिंहासनद्वात्रिंशतिका* के अलावा उसे लुप्त ही समझा जाता रहा था। बाद में स्थिति बदली और पता चला जिन पुस्तकों को प्राकृत की रचना समझा जाता रहा था, उनमें से बहुत अपभ्रंश की थीं।

10. जैन ग्रन्थ

जैन-भण्डारों में अनेक अपभ्रंश पुस्तकें मिलीं, जो जैन धर्मावलम्बियों द्वारा जैनधर्मी सिद्धान्तों के विषय में लिखित थीं। स्पष्टतः उसमें सिद्धान्त-विवेचन अधिक और साहित्यिक सौन्दर्य नगण्य दिखाई देता है। यहाँ विवेच्य हिन्दीभाषी भूभाग और भाषा-साहित्य से जैन धर्म का ज्यादा गहरा सम्बन्ध नहीं रहा, लेकिन जैन धर्म के प्रश्रय से संरक्षित रचनाओं में अपभ्रंश की संरचना और उसके काव्यरूपों के विषय में विस्तृत और व्यवस्थित जानकारी संचित और सुरक्षित है, जिससे भाषा और साहित्य के विकास के एक पूरे अध्याय का ज्ञान मिलता है, इसलिए इन रचनाओं का महत्त्व असन्दिग्ध है। इन कवियों में स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, जोइन्दु, मुनि रामसिंह के नाम प्रमुख हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने *हिन्दी साहित्य की भूमिका* में पुष्फयन्त; पुष्पदन्तकृत *तिसट्ठिलक्खण-महापुराण*, स्वयम्भू कृत *पउमचरिउ*, *हरिवंशपुराण*, *जसहर चरिउ*, *णायकुमार चरिउ* के अलावा *भविसयत्त कहा*, *सणंकुमार चरिउ*, *संदेशरासक*, *मयणरेहासन्धि*, *पउमसिरी चरिउ*, *वज्रस्वामिचरित्र*, *अन्तरंगसन्धि*, *चौरंगसन्धि*, *सुलसाख्यान*, *चच्चरी*, *भावनासार*, *परमात्मप्रकाश*, *आराधना*, *नमयासुन्दरिसन्धि* आदि अनेक जैन रचनाओं के नाम गिनाए हैं। अपभ्रंश के वैयाकरण हेमचन्द्र भी जैन आचार्य थे।

11. इतर स्रोतों से प्राप्त अपभ्रंश रचनाएँ

छन्दविधान के विषय में लिखित पुस्तक *प्राकृतपैंगलम्* में बहुत सी अपभ्रंश कविताएँ उदाहरण की तरह संकलित हैं। अब्दुलरहमान का *संदेशरासक* विरहकाव्य है। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री के सम्पादन में प्रकाशित *बौद्ध गान ओ दोहाकोश* को बांग्ला लिपि के कारण अपभ्रंश की तरह पहचानने में विलम्ब हुआ। इसमें संकलित दोहा की भाषा में अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप मिलता है, लेकिन पदों की भाषा में पूर्वी भाषा के चिह्नों के कारण उसे बाँगला, मैथिली, मगही, भोजपुरी, ओड़िया का भी पूर्वरूप माना गया। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। बौद्ध धर्म के सहजयान और वज्रयान सम्प्रदाय में तन्त्र-मन्त्र का बोलबाला हो गया था। उनके अनुयायी सिद्ध कहे जाते थे। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गई है। विषयवस्तु के रूप में काया-योग, सहज-शून्य की साधना और समाधि की तन्मयता को लिया गया है। इनमें से कुछ अधिक प्रसिद्ध नाम सरहपा, शबरपा, भुसुकपा, लुईपा इत्यादि हैं।

12. अपभ्रंश काव्य के रूपबन्ध

अपभ्रंश काव्य के रूपबन्ध बाद के हिन्दी साहित्य में विरासत की तरह अनेक रूप-रूपान्तरों में प्राप्त हुए और परम्परा का विस्तार बने।

12.1. चरित काव्य

पद्धरिया सोलह मात्रा का छन्द है, जिसकी आठ पंक्तियों के साथ दूहा का घत्ता (विराम) देकर जिस पंक्ति-गुच्छ की रचना होती है, उसे कड़बक कहते हैं। दूहा-पद्धरिया बन्ध में कथाकाव्यों की रचना की गई। जैन परम्परा में ये चरित-काव्य कहलाए। स्वयम्भू का *पउम-चरिउ*, धनपाल का *भविसयत्त-कहा*, पुष्पदन्त का *जसहरचरिउ* आदि तथा पूर्वोल्लिखित सूची में अन्य अनेक चरित-काव्यों के उदाहरण हैं। चरितकाव्यों में परवर्ती हिन्दी कथाकाव्यों के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, कविप्रसिद्धियों, छन्दयोजना वगैरह का पूर्वरूप दिखाई देता है। पश्चिमी हिन्दी में दूहा-पद्धरिया के समकक्ष पूर्वी हिन्दी में दोहा- चौपाई बन्ध का प्रयोग किया जाता था। दोहा-चौपाई बन्ध के प्रथम प्रयोक्ता सिद्ध सम्प्रदाय के बौद्ध कवि सरहपा थे।

12.2. मुक्तक काव्य

दोहा या दूहा छन्द का प्रचुर ऐश्वर्य अपभ्रंश में प्रकट हुआ। निर्गुण की महिमा और धार्मिक उपदेश, नीति की शिक्षा, वीर और शृंगार सामान्यतः दूहा की रचना के विषय हैं।

गेय पदों का विपुल साहित्य अपभ्रंश में रहा होगा। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में साहित्यिक अपभ्रंश का विवेचन किया है, किन्तु ग्राम्य अपभ्रंश की भी चर्चा की है, जिसमें *रासक-डोम्बिका* आदि प्रकार की गेय कृतियाँ रची जाती थीं। आचार्य द्विवेदी का अनुमान है कि सम्भवतः रासक छन्द में रचित होने के कारण इनका यह नाम पड़ा होगा, किन्तु बाद के हिन्दी साहित्य में रासक या रासो के नाम से कथाकाव्य ही शेष रहे। अपभ्रंश के गेय पद भी बहुत कम ही मिले, लेकिन गेय पदों की परम्परा हिन्दी साहित्य में बनी रही।

12.3. सन्धा भाषा अथवा उलटबाँसियाँ

बौद्ध गान ओ दोहाकोश में संकलित सिद्ध साहित्य में बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनमें प्रकट रूप से ऐसा अर्थ सुनाई देता है, जो लोकविरुद्ध और कुत्सित है, क्योंकि उसमें साधना की रहस्यात्मक शब्दावली का प्रयोग किया गया है और परिचित शब्दों का एक गुह्य अभिप्रेत अर्थ अभिप्राय को बदल देता है। रहस्यात्मक शब्दों के अर्थ की जानकारी साधनात्मक अर्थ को स्पष्ट कर देती है। इन वज्रयानी सिद्धों की यह उलटबाँसी शैली शैव नाथपन्थियों की ऐसी ही शैली के बहुत कुछ समान है। दोनों प्रकार के साधनामार्गियों में घनिष्ठ सम्बन्ध रह चुका था। नाथों की पूर्वज परम्परा में भी चौरासी सिद्ध हैं और दोनों सूचियों में बहुत सारे नाम समान हैं। उलटबाँसी की परम्परा हिन्दी में निर्गुण सन्तों तक चलती रही। सरहपा तो प्रथम सिद्ध माने ही जाते हैं। इन्हें ही सहजयान का प्रवर्तक कहा गया है।

13. निष्कर्ष

पश्चिमी सिरे पर शौरसेनी और पूर्वी सिरे पर मागधी का जिक्र हिन्दी की पूर्ववर्ती प्राकृतों के रूप में किया जा चुका है। ये दोनों हिन्दी साहित्य के केवल दो भिन्न भाषिक मूल नहीं, बल्कि दो भिन्न संस्कार और आचार-विचार को अभिव्यक्त करने वाले साहित्य हैं। दोनों प्रकार के साहित्य दो भिन्न आर्यजातियों के रचे हुए साहित्य हैं। पश्चिमी अपभ्रंश से चारण काव्य की राजस्तुति, ऐतिहासिक, शृंगारी काव्य, लोकप्रचलित कथानक तथा नीति की फुटकल रचनाएँ आईं। पूर्वी अपभ्रंश से निरगुनियाँ सन्तों की शास्त्र-निरपेक्ष उग्र विचारधारा, पाखण्ड विरोध में झाड़ फटकार, अक्खड़पना, सहजशून्य की

साधना, योगपद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ उत्पन्न हुईं। हिन्दी में पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ पूर्वी आर्यों की भावप्रवणता, विद्रोही वृत्ति, प्रेम-निष्ठा को भी अभिव्यक्ति मिली।

आधुनिक भाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ, किन्तु विशेष बात यह हुई कि आधुनिक आर्यभाषाओं में संस्कृत शब्दों का पुनरागमन हुआ, जबकि अपभ्रंश में वे लगभग अनुपस्थित हो चुके थे या तद्भव बन चुके थे, लेकिन हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि संस्कृत प्रचुर भाषाएँ बनीं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल ने अपनी पृष्ठभूमि से इस विषयवस्तु और संवेदना की विरासत के साथ अपभ्रंश का भाषागत उत्तराधिकार भी पाया, जो आगे चलकर हिन्दीभाषी प्रदेश की अनेक बोलियों में विकसित हुआ। आदिकाल के मूर्धन्य कवि चन्द बरदाई हिन्दी के आदिकवि भी हैं और अपभ्रंश के अन्तिम कवि भी, हालाँकि अपभ्रंश की रचनाएँ पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी तक चलती रहीं।

A Gateway to All Post Graduate Courses